



हिंदी साहित्य का इतिहास : कुछ प्रश्न, कुछ सुझाव

जिस देश में इतिहास लेखन के प्रति विशेष उत्साह दिखाई पड़ता है, समझा जाना चाहिए कि उस देश में इतिहास के नव-निर्माण की ऐतिहासिक चेतना विद्यमान है. हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के संदर्भ में भी यह बात उतनी ही सच है. हिन्दी के विद्वानों एवं साहित्यकारों ने अपने इस ऐतिहासिक दायित्व का पूरी ईमानदारी से निर्वाह किया है और वे आज भी साहित्य का नया इतिहास लिखने की दिशा में प्रयत्नशील हैं. यद्यपि डॉ. बच्चन सिंह ने अपनी कृति "हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास" में स्वीकार किया है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को छोड़कर कोई दूसरा इतिहास नहीं लिखा जा सकता तथापि यह उल्लेख्य है कि स्वतंत्रता के पश्चात साहित्य इतिहास लेखन के प्रति नई चेतना जागृत हुई है.

फलतः भारतीय एवं विशेषतः हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन किस प्रकार किया जाये इस पर भी बहस जारी रही. इसमें कोई संदेह नहीं है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के पश्चात हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में उन्हीं विचार बिन्दुओं की आवृत्ति हुई है जिनका उल्लेख स्थूल या सूक्ष्म रूप में उन इतिहासों में हुआ था, फिर भी यह बात कम महत्वपूर्ण नहीं है कि हिन्दी के नवीन इतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक आख्यान को लेकर विद्वानों ने कोई शिथिलता नहीं बरती. साहित्य का इतिहास लेखन कई दृष्टियों से सम्पन्न हुआ है जिसमें हिन्दी में रचे जा रहे साहित्य के अंतरंग तत्वों को उद्घाटित किया गया है.

हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की समस्याओं पर विचार करने से पूर्व उस समृद्ध परंपरा पर दृष्टिपात कर लेना समीचीन होगा जिसके आधार पर ही पुनर्लेखन पर पुनर्विचार संभव है. साहित्य का इतिहास लिखने की परंपरा का सूत्रपात तब हुआ था जब जीवन के विविध क्षेत्रों में इतिहास निर्माण की ललक स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही थी. आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपने युग के राष्ट्रीय आंदोलन के समानांतर ही उन्होंने हिन्दी साहित्य के वैभव से पाठकों का परिचय कराया. शुक्ल जी ने तत्कालीन रचनात्मक साहित्य की ऐतिहासिक क्रांति व नवीन सृजनात्मक प्रवृत्तियों को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया. यही कारण है कि उनका प्रयास सही अर्थों में इतिहास बना.

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन को यदि आरंभिक, मध्य व आधुनिक काल में विभाजित कर विचार

किया जाए तो स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास अत्यंत विस्तृत व प्राचीन है. उसे शब्दबद्ध करने का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण था. आरंभिक काल में मात्र कवियों के सूची संग्रह को इतिहास रूप में प्रस्तुत कर दिया गया. भक्तमाल आदि ग्रंथों में यदि भक्त कवियों का विवरण दिया भी गया तो धार्मिक दृष्टिकोण तथा श्रद्धातिरेक की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त उसकी और कुछ उपलब्धि नहीं रही.

19वीं सदी में ही हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों के विकास की रूप रेखा स्पष्ट करने के प्रयास होने लगे. प्रारंभ में निबंधों में भाषा और साहित्य का मूल्यांकन किया गया जिसे एक अर्थ में साहित्य के इतिहास की प्रस्तुति के रूप में भी स्वीकार किया गया. डॉ. रूपचंद पारीक, गार्सा-द-तासी के ग्रंथ को हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास मानते हैं. उन्होंने लिखा है- "हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास लेखक गार्सा-द-तासी हैं, इसमें संदेह नहीं है. परंतु डॉ. किशोरीलाल गुप्त का मतव्य है- "तासी ने अपने ग्रंथ को हिन्दुई और हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास" कहा है, पर यह इतिहास नहीं है, क्योंकि इसमें न तो कवियों का विवरण काल क्रमानुसार दिया गया है, न काल विभाग किया गया है और अब काल विभाग ही नहीं है तो प्रवृत्ति निरूपण की आशा ही कैसे की जा सकती है.

वैसे तासी और सरोज को हिन्दी साहित्य का प्रथम और द्वितीय इतिहास मानने वालों की संख्या अल्प नहीं है परंतु डॉ. गुप्त का विचार है कि ग्रियर्सन का "द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान" हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास है. डॉ. रामकुमार वर्मा ने इसके विपरीत अनुसंधानात्मक प्रवृत्ति की दृष्टि से तासी के प्रयास को अधिक महत्वपूर्ण निरूपित किया है.

प्रथम इतिहास लेखन के प्रश्न को यहां अधिक विस्तार न देते हुए यह लिखना ही उपयुक्त होगा कि पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानों ने हिन्दी के इतिहास लेखन के आरंभिक काल में प्रशंसनीय भूमिका निभाई है. शिवसिंह सरोज साहित्य इतिहास लेखन के अनन्य सूत्र हैं. हिन्दी के वे पहले विद्वान हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य की परंपरा के सातत्य पर समदृष्टि डाली है. अनन्तर मिश्र बंधुओं ने साहित्यिक इतिहास तथा राजनीतिक परिस्थितियों के पारस्परिक संबंधों का दर्शन कराया. डॉ. सुमन राजे के शब्दों में-"काल विभाजन की दृष्टि से भी विश्वबंधु विनोद प्रगति की दिशा में बढ़ता दिखाई देता है."

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का प्रथम व्यवस्थित इतिहास लिख एक नये युग का समारंभ किया. उन्होंने लोकमंगल व लोक धर्म की कसौटी पर कवियों और कवि-कर्म की परख की और लोक चेतना की दृष्टि से उनके साहित्यिक अवदान की समीक्षा की. यहीं से काल विभाजन और साहित्य इतिहास के नामकरण की सुदृढ़ परंपरा का आरंभ हुआ. इस युग में डॉ. श्याम सुन्दर दास, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', सूर्यकांत शास्त्री, अयोध्या सिंह उपाध्याय, डॉ. रामकुमार वर्मा, राजनाथ शर्मा प्रभृति विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास विषयक ग्रंथों का प्रणयन कर स्तुत्य योगदान दिया. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल युग के इतिहास लेखन के अभावों का गहराई से अध्ययन किया और हिन्दी साहित्य की भूमिका (1940 ई.), हिन्दी साहित्य का आदिकाल (1952 ई.) और हिन्दी साहित्य ; उद्भव और विकास (1955 ई.) आदि ग्रंथ लिखकर उस अभाव की पूर्ति की. काल विभाजन में उन्होंने कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया. शैली की समग्रता उनकी अलग विशेषता है.

वर्तमान युग में आचार्य द्विवेदी के अतिरिक्त साहित्येतिहास लेखन में अन्य प्रयास भी हुए परंतु इस दिशा में विकास को अपेक्षित गति नहीं मिल पाई. वैसे डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, डॉ. रामखेलावन पांडेय के अतिरिक्त डॉ. लक्ष्मी सागर वाष्णीय, डॉ. कृष्णलाल, भोलानाथ तथा डॉ. शिवकुमार की कृतियों के अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य का इतिहास एवं डॉ. नगेन्द्र के संपादन में प्रकाशित हिन्दी साहित्य का इतिहास आधुनिक युग की उल्लेखनीय उपलब्धियां हैं. हरमहेन्द्र सिंह बेदी ने भी हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन की भूमिका लिखकर साहित्य के इतिहास और उसके प्रति दार्शनिक दृष्टि को नये ढंग से रेखांकित किया है. आरंभिक काल से लेकर आधुनिक व आज की भाषा में आधुनिकोत्तर काल तक साहित्य इतिहास लेखकों के नाम तो शताधिक गिनाये जा सकते हैं परंतु इस आलेख का मूल प्रश्न आज भी जीवंत है कि साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएं क्या हैं ?

ज्ञातव्य है कि साहित्य का इतिहास लिखते समय राष्ट्र के जन-जीवन में उदित होने वाली विचार धाराओं और आंदोलनों का विस्तृत विवेचन अपेक्षित होता है, क्योंकि बिना उनको समझे साहित्य के तत्कालीन रूपों और उनके विकास को समझना असंभव है. कोई भी विचार धारा अकस्मात् उदित नहीं होती, उसके बीज सम-सामयिक समाज-व्यवस्था में ही छिपे रहते हैं, अतः कहना न होगा कि सम-सामयिक समाज के विस्तृत परिदृश्य की समझ जिस इतिहासकार में अधिक होगी, उसका साहित्येतिहास भी उतना व्यापक और प्रामाणिक होगा. वह भ्रांत धारणाओं से उतना ही मुक्त रहेगा तथा साहित्य के विकास के विभिन्न चरणों के विशेषण व अंकन में उसकी बुद्धि सारग्राहिणी भी होगी. कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की पहली समस्या है, इतिहास विषयक सम्यक जानकारी का अभाव और इस दिशा में इतिहासकार का उपेक्षा भाव !

आज कितने ऐसे इतिहास लेखक या समीक्षक हैं जिन्होंने पुराने व नये इतिहासकारों को सही ढंग से पढ़ा है ? विवेचन के दौरान मात्र सामग्री – संचयन के स्थान पर अपने मत को प्रमाणों व तर्कों से परिपुष्ट किया है ? सच तो यह है कि इतिहास लिखने और ऐतिहासिक सोच का धनी होने में बड़ा अंतर है. किसी भी भाषा का साहित्येतिहास उस भाषा के संपूर्ण साहित्य के मूल्यांकन का सार होता है. अतः साहित्येतिहास-लेखन से पहले पूरे साहित्य का मनोयोग पूर्वक अध्ययन अपेक्षित होता है. परंतु, यह कार्य समय-साध्य व श्रम साध्य होने के कारण, साहित्येतिहासकार आलोचनात्मक ग्रंथों के आधार पर उच्च स्तरीय कृतियों का चयन करता है, किन्तु उनमें भी आलोचकों की पक्षपात पूर्ण दृष्टि को न समझ लेने के कारण पुनर्लेखन का कार्य मात्र पुनरावृत्ति बनकर रह जाता है.

इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इतिहास लेखक साहित्य की विकास-यात्रा के प्रत्येक चरण की गहन पड़ताल करें और उनमें पूर्वाग्रहों, संकीर्णताओं तथा स्वार्थबद्ध किंवा भीरू स्थापनाओं का अनावरण करें. अतः मेरी दृष्टि में साहित्य इतिहास के पुनर्लेखन से पूर्व यह पुनर्विचार कर लेने में कोई बुराई नहीं है कि 'इतिहास' के नाम पर 'अतिहास' का नया अध्याय तो प्रारंभ नहीं किया जा रहा है, वरना ऐसा क्यों है कि आज भी शुक्ल जी, द्विवेदी जी जैसे समर्थ साहित्येतिहास लेखकों जैसा इतिहास बोध व उनके जैसी इतिहास-दृष्टि दुर्लभ नहीं तो खोज का विषय तो है ही.

प्रस्तुत संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह का कथन द्रष्टव्य है- "यदि हिन्दी का आज जीवन्त साहित्य है तो निश्चय ही उसके सामान्तर जीवंत साहित्य-बोध भी है- चाहे इस साहित्य-बोध से युक्त शिक्षित

समुदाय जितना छोटा हो और प्रबुद्ध समुदाय के बीच आज का साहित्य ही नहीं, बल्कि अतीत में उन साहित्यकारों की कृतियां भी जीवित हैं, जिन्हें वह आज भी प्रासंगिक समझता है. कहना न होगा कि आज साहित्यिक प्रतिमान संरक्षक यही समुदाय है, जिसमें परंपरा-बोध जीवित है, जिसमें अतीत की जीवन्त स्मृति के साथ ही परिवर्तनशील वर्तमान के प्रति सतत जागरूकता भी है. सम-सामयिक-बोध को परिभाषित और संगठित करना ही साहित्य का प्रतिमान भी है और साहित्य का इतिहास भी. इससे भिन्न प्रतिमान के नाम पर जो सिद्धांत पेश किए जाते हैं वे निर्जीव रूढ़ि होते हैं और इससे भिन्न जो इतिहास लिखा जाता है, वह सूची पत्र है.” कहा जा सकता है कि इसी परंपरा-बोध एवं सम-सामयिक-बोध में संगठन की जीवन्तता का अभाव, साहित्येतिहास लेखन व लेखक दोनों के समक्ष बड़ी चुनौती है.

मात्र पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग, वर्तुल शब्दावली, कपोल कल्पित बातों और अनिश्चित अर्थ वाले शब्दों के प्रयोग से न तो कोई बड़ा आलोचक हो सकता है और न ही साहित्य का मूर्धन्य इतिहास लेखक. वह आत्म-मुग्धता से ग्रस्त होकर स्वयं को चाहे इतिहासकार घोषित कर दे अथवा विवेचनात्मक या आलोचनात्मक इतिहासकार होने का मिथ्या दंभ भरे किन्तु इससे साहित्य इतिहास के पुनर्लेखन की समस्या का कोई समाधान नहीं हो सकता.

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक परप्रेक्ष्य का ध्यान रखते हुए जो इतिहास लिखा जायेगा उसमें सम-सामयिक-बोध के साथ-ही-साथ साहित्य व साहित्यिक सोच का सहज अंतर्भाव होगा, उसे विवेचनात्मक अराजकता, एकांगी दृष्टिकोण से दूर रखा जा सकेगा और पुनर्लेखन के नाम पर पुनर्मूल्यांकन के एकांकी व आग्रही प्रयासों से इतिहास को एक हद तक मुक्त रखा जा सकेगा. यहां यह स्पष्ट कर देना भी अपरिहार्य है कि इतिहास लेखक के लिए परंपरा-बोध जरूरी है, परंतु परंपरा के नाम पर मात्र सूचना-धार्मिता निभाना इतिहास बोध सम्पन्न हो जाने का प्रणाल पत्र नहीं है.

अतीत में की गई व्याख्याओं व अनुसंधानों का सर्वोत्तम ऐतिहासिक महत्व इस बात में है कि उससे नवीन सम-सामयिक दृष्टि मिल सके, नया इतिहास रचा जा सके. इसके विपरीत सिर्फ कल की सामग्रियों, तथ्यों, तिथियों एवं विवरणों को यथावत् प्रस्तुत करके उसमें कुछ नया जोड़ देने से कोई साहित्येतिहास लेखक नहीं हो जाता. दरअसल साहित्येतिहास लेखक, इतिहास निर्माता भी होता है. यह कार्य वही कर सकता है जो कल और आज दोनों में गहरी दिलचस्पी तो रखता है किन्तु, बीते हुए कल को अपने इतिहास में ‘अति’ से बचाकर रखता है तथा आने वाले ‘कल’ के अंकन को दृष्टिपथ में रखकर ‘आज’ का इतिहास लिखता है. इस अर्थ में वह स्वयं एक समर्थ आलोचक भी होता है.

साहित्येतिहास के लेखक के समक्ष सामान्यतः काल व युग, काल-विभाजन, काल-नामकरण, इतिहास लेखन का केन्द्र, स्थानानुपात, रचयिता के व्यक्तित्व वर्णन का परिसीमन तथा समीक्षा के मानदंड, स्वरूप आदि की समस्याएं प्रस्तुत होती हैं. इन समस्याओं में से काल-विभाजन व नामकरण जैसे बिन्दुओं पर अनेक शोध हुए हैं और शुक्ल जी के बाद यद्यपि उनके काल-विभाजन तथा दृष्टिकोण को पर्याप्त आदर दिया गया तथापि बदलते युग व परिवेश के संदर्भ में नामकरण व काल-चिन्ता की एक परंपरा ही चल पड़ी. फिर भी, साहित्येतिहास में ये दो समस्याएं आज के संदर्भ में अत्यंत चिंतनीय नहीं हैं. आज सब तरफ मनुष्य की अस्मिता और उसके भविष्य का प्रश्न मुंह बाये खड़ा है. फलतः साहित्य और समीक्षा से लेकर इतिहास लेखन तक, काल से भी परे मनुष्य के अस्तित्व और मानवीय मूल्यों के

संरक्षण पर सर्वाधिक जोर दिया जा रहा है. यही कारण है कि इतिहास लेखक की दृष्टि अपने समय के साथ अधिक न्यास करने पर केन्द्रित है. शिव कुमार शर्मा के शब्दों में शब्दों में-"काल-विभाजन सभ्य मानव के इतिहास को समझने का महत्वपूर्ण प्रयत्न है."

हित्यक के इतिहास में काल क्रमानुसार, साहित्य कृति के आधार पर या युग इतिहास को ध्यान में रखकर काल विभाजन की परंपरा रही है. परंतु ध्यान दिया जाना चाहिए की जनता की जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्यिक स्वरूप में जो परिवर्तन आये हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न शाखाएं फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक निरूपण और उनकी दृष्टि से किये हुए सुसंगत काल-विभाजन के बिना साहित्य का सच्चा अध्ययन संभव नहीं है. अतः साहित्य के इतिहास लेखन में काल से लेकर युग बोध तक, परंपरा बोध से लेकर इतिहास बोध तक, सामाजिक चेतना से लेकर साहित्यिक वैशिष्ट्य तक, समान प्रकृति से लेकर अनन्य प्रवृत्ति तक वर्गीकृत अध्ययन कर साहित्य का इतिहासकार यदि संपूर्ण साहित्य का समवेत अनुशीलन करे तो तय समझिये कि उससे साहित्य व इतिहास तथा प्रकारान्तर में मनुष्य व मानवता का भला ही होगा.

(लेखक शासकीय दिग्विजय स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय राजनांदगांव में हिंदी के प्राध्यापक हैं)